International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 2; Issue 6; November 2017; Page No. 854-856

सांप्रदायिकता का दंश और 'छाको की वापसी'

डॉ० सतीश कुमार
गॉव व डाकघर मदीना गिन्धराण, तहसील महम जिला रोहतक, हरियाणा, भारत।

प्रस्तावना

बदीउज़्ज़माँ के उपन्यास 'छाको की वापसी' में भारत विभाजन के पूर्व से लेकर बंगला देश के निर्माण तक की साम्प्रदायिक समस्याओं का वर्णन किया गया है। ''देश विभाजन के बाद बिहार से पूर्वी पाकिस्तान गये मुसलमानों के मोहभंग का अनुभूतिपूर्ण अंकन किया गया है। बिहार के मुसलमान पूर्वी पाकिस्तान पहुँचकर न तो वहाँ की जमीन, भाषा और संस्कृति से जुड़ पाते हैं और न ही अपनी जमीन से पूरी तरह से कट पाते हैं। अपने वतन के प्यार की कीमत उन्हें पराए मुल्क में जाकर मालूम होती है। 'बंगाली' और 'बिहारी' मुसलमान का भेद उन्हें वहाँ अजनबी बना देता है। कुछ ही दिनों में ये मुहाजिर भारत में छूट गए सम्बन्धियों और माहौल में जीने के लिए तड़पने लगते हैं, छटपटाते हैं और सिर धुनते हैं। पर कानून उन्हें लौटने नहीं देता। इस विवशता की मनःस्थिति का उपन्यासकार ने बहुत मार्मिक अंकन किया है।''[1]

उपन्यास का नायक 'खाजे बाबू' बिहार के गया नगर का निवासी है। उसके पिता सरकारी दफ्तर में क्लर्क थे। चाचा डाकघर में अफसर थे। चाचा का बेटा ग्रेजुएट तथा विचारों से मुसलिम लीगी है। उसके पड़ोस में महम्दू खलीफा का घर है। महम्दू खलीफा का पुत्र अब्दूश्शकूर उर्फ छाको, खाजे बाबू का बचपन का दोस्त है। खाजे बाबू के रिश्ते के एक और भाई हैं– वली अहमद। ये राष्ट्रवादी मुसलमान है। कथा की सारी बुनावट इन्हीं पात्रों के इर्द–गिर्द है। पाकिस्तान गए छाको का खत लेकर उसकी बुआ जनवा आती है और खाजे बाबू से पढ़ने का अनुरोध करती है। इसके बाद फ्लैश–बैक शैली के माध्यम से लेखक अतीत की स्मृतियों में भटकता है। छाको के प्रत्येक पत्र के साथ अतीत की परिवेशगत बुनावट और सघन होकर फ्लैश होती है।

विभाजन से पूर्व की साम्प्रदायिक समस्याओं पर लेखक ने हबीब और वली अहमद उर्फ गांधी भाई के माध्यम से प्रकाश डाला है। इन दोनों के बीच समय–समय पर हुए तकरार, झड़प और तर्क–वितर्क भारतीय मुसलमानों की विवशता और अंतर्विरोध को प्रकट कर देते हैं। गांधी भाई जहां कांग्रेस की राष्ट्रीयता के प्रति समर्पित है, वहीं दूसरी ओर हबीब भाई कांग्रेस की राष्ट्रीयता के खिलाफ हैं और मुस्लिम लीग के प्रबल समर्थक हैं। गांधी भाई उर्फ वली अहमद की राजनीतिक चेतना खिलाफत आंदोलन के दौरान विकसित हुई थी। इसके पश्चात् उनका लक्ष्य केवल एक ही था– देश से अंग्रेजों को भगाना। जमशेदपुर में हुए एक साम्प्रदायिक दंगे में मरते समय भी अपनी राष्ट्रीय प्रतिबद्धता को दोहराते हैं– ''तुम लोगों को शर्म आनी चाहिए। तुम लोग इंसान का खून बहाना चाहते हो। तुम समझते हो मैं तुमसे डर जाऊंगा। मैं मुस्लिम लीग के गुण्डों से जिस तरह जिंदगी–भर लड़ता रहा हूँ, उसी तरह तुमसे भी लडूंगा।''[2]

दूसरी ओर हबीब भाई की राजनीतिक चेतना का विकास 'मुस्लिम लीग जिंदाबाद', 'कायदे आजम जिंदाबाद' और 'ले के रहेंगे पाकिस्तान' के नारों के बीच होता है। मुस्लिम लीग द्वारा फैलाए गए इस जहर के प्रभाव से आम मुसलमान भी नहीं बच पाए थे। मुस्लिम लीगी गांधी भाई को मुसलमान कौम का गद्दार तक कह देते हैं। जब गांधी भाई उर्फ वली अहमद पाकिस्तान की कल्पना का विरोध करते हुए हबीब भाई से कहते हैं– ''मियाँ ! भेड़चाल चलने की कोशिश न करो। खुदा ने अक्ल और आँखें दी हैं। खुद सच्चाई तक पहुँचने की कोशिश करो, नारों में कुछ नहीं रखा है। पाकिस्तान का ख्याल बहुत बड़ा फरेब है।''[3] इस पर हबीब भाई गांधी भाई को उत्तर देते हुए कहते हैं– ''महात्मा जी, आप कान खोलकर सुन लें। पाकिस्तान बनकर रहेगा। आप जैसे कौम के दुश्मन भी इसे नहीं रोक सकते। डूब मरने की बात है कि आप लोगों के लिए। सारी कौम एक तरफ है और आप एक तरफ। मक्के के काफ़िर भी आप लोगों से बेहतर होंगे।''[4] हबीब भाई मुस्लिमों के लिए पाकिस्तान को एक विकल्प के रूप में देखते हैं– ''आप जैसे गद्दारों के लिए यकीनन पाकिस्तान एक ख्याली और नकली जन्नत हो सकती है, लेकिन सच्चे मुसलमानों के लिए वह एक जीती–जागती हकीकत है। वह उनके ख्वाबों और हौंसलों की जमीन है, वहाँ वह हिन्दुओं के जुल्म से हमेशा–हमेशा के लिए आजाद हो सकेंगे।''[5] हबीब भाई गांधी भाई के सामने इतिहास का तर्क देते हुए कहते हैं कि ''हिन्दू कभी मुसलमानों के साथ घुलमिल नहीं सकता। हिंदुस्तान की सैंकड़ों साल की तारीख गवाह है कि हिंदू और मुसलमान कभी एक नहीं हो सकते। मज़हब, कल्चर, लिबास, जबान– कोई भी तो नुक्ता नहीं जहाँ दोनों एक–दूसरे से मिलते हों।''[6] यह है विभाजन से पूर्व की उग्र मुसलिम साम्प्रदायिकता जो अपने सामने किसी भी तर्क या वास्तविकता को टिकने नहीं देती। उसका तो एक ही उद्देश्य है– मुसलमानों के लिए अलग देश पाकिस्तान का निर्माण। वास्तव में स्वाधीनता आंदोलन के दौरान मुसलमानों के एक वर्ग में यह भय समा गया था कि अंग्रेजों के जाने के बाद मुसलमान हिंदुओं के गुलाम हो जाएंगे और उनका सर्वनाश हो जाएगा। इस वर्ग पर बहुसंख्यक हिंदू का डर घर कर रहा था और बहुसंख्यक हिंदुओं द्वारा 'आयोजित' दंगों का खतरा भी इनको सता रहा था। ये लोग इसको बढ़ा–चढ़ाकर बताने लगे। इस संदर्भ में हबीब भाई का कथन उल्लेखनीय है– ''देखना अब जो मुसलमान यहाँ रह जाएंगे उनकी क्या हालत होती है। सब हिंदू बना दिए जाएंगे। चोटी रखनी पड़ेगी। जो यह सब नहीं करेंगे, उन्हें चुन–चुन कर मार डाला जाएगा।''[7] वास्तव में इस प्रकार के अलगाववादी विचार उन लोगों द्वारा फैलाए जा रहे थे, जो मुसलमानों के लिए अलग देश 'पाकिस्तान' बनाना चाहते थे। और जिनको इसमें सफलता भी मिली थी।

लेखक ने इस प्रकार के लोगों को 'भूत' कहा है। उनके अनुसार कुछ लोगों ने अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इन भोले–भाले मुसलमानों का इस्तेमाल किया था। ऐसे बहुत कम लोग थे, जो इन

स्वार्थी लोगों की सच्चाई को जानते थे। लेखक के अनुसार, ''सबके सिरों पर जैसे भूत सवार हो गए थे और सब भूतों की जबान में ही बोल रहे थे। भूत जो कुछ चाहते थे वह पूरा हो चुका था और उन्हें इन लोगों की जरूरत नहीं थी।''[8] पाकिस्तान तो मुसलमानों के एक संपन्न वर्ग की देन था। इस वर्ग ने पाकिस्तान बनने के बाद पूरी कोशिश की कि निचले तबके का मुसलमान वहां न जाए। हबीब भाई भी ऐसा ही सोचते थे कि जाहिल और गंवार मुसलमान नहीं जाएं तो अच्छा है, सिर्फ पढ़े–लिखे मुसलमानों को वहां जाना चाहिए। और अगर ये वहां गए तो इनको भी फायदा मिलेगा। जिसका प्रमाण उपन्यास की निम्न पंक्तियों में मिल जाता है– ''मुहल्ले में पढ़े–लिखे खुशहाल लोग, वैसे ही बहुत कम थे और पाकिस्तान बनने के बाद उनकी तादाद और भी घट गई थी। लेकिन जुलाहे, दर्जी, राज–मजदूर, कसाई और इस तरह के निचले तबके के, वे दूसरे लोग मुहल्ले में वैसे ही मौजूद थे, जैसे पहले थे। इनकी तादाद बढ़ी ही थी, घटी नहीं थी।''[9] इस उपन्यास का मुख्य पात्र छाको पाकिस्तान जाने के पक्ष में कभी नहीं था, उसको धोखे से पाकिस्तान ले जाया गया। इसी तरह गांधी भाई सदैव पाकिस्तान के विरोध में खड़े दिखाई देते हैं।

भारत विभाजन से पहले की साम्प्रदायिकता किस प्रकार लोगों के दिलों में जहर घोल रही थी, इसका उदाहरण रामधनी नाई के प्रसंग से मिल जाता है। रामधनी का घर मुस्लिम मोहल्ले में था। वह हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए समान भाव से काम करता था। लेकिन जब से दंगा हुआ है, उसे नई स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। उसे कभी–कभार डर महसूस होता है। एक तरफ तो हिंदुओं और मुसलमानों का डर, दूसरी तरफ इमाम साहब के शाप का डर, ऐसी स्थिति में वह नकफोफा बाबू के पास जाकर अपनी जान बचाता है। इसी रामधनी के लिए खाजे बाबू ने कई बार सुना है– ''हिन्दुओं ने कोई शरारत की और हमारे आदमी को मारा–पीटा तो हम लोग सबसे पहले रामधनी और नन्हकू साब का सफाया कर देंगे।''[10]साम्प्रदायिकता के इस माहौल में रामधनी और नन्हकू साब व्यक्ति न होकर सम्प्रदाय के प्रतीक बन गए हैं। पूरा शहर हिंदू–मुसलमान के रूप में बंट रहा है। बंट रहा है नहीं बल्कि बांटा जा रहा है। साझी विरासत, परम्पराएं और आचार–विचार समाप्त हो रहे हैं। मुसलमानों के त्योहार मुहर्रम में जहां हिंदुओं और मुसलमानों की बराबर भागीदारी होती थी, इस साम्प्रदायिकता की भेंट चढ़ गई। अहमद कादरी जैसे लोग लगातार साम्प्रदायिक भावनाओं का प्रचार–प्रसार कर रहे हैं।

इसी साम्प्रदायिक तनाव के माहौल में देश का विभाजन हुआ। विभाजन के साथ अनेक ऐसी समस्याएं भी उठ खड़ी हुई, जिनकी कल्पना साम्प्रदायिक नारों के उन्माद में मुसलमानों ने कभी न की थी। उन्हें इस बात का अन्दाजा भी न था कि पाकिस्तान बनने के बाद अपने घर, मुहल्ले और सगे–सम्बन्धियों से बिछुड़कर जाना पड़ेगा। इस समय मुसलमानों की स्थिति भंवर में फंसे हुए व्यक्ति के समान हो गई थी–'' 'लेके रहेंगे पाकिस्तान' का नारा लगाने वालों में चाहे जितना जोश रहा हो, उन्होंने पाकिस्तान बनवाने के लिए चाहे जितनी कुरबानी दी हों लेकिन शायद ही किसी के दिमाग में यह बात कभी आई हो कि पाकिस्तान बनने के बाद, उन्हें अपना घर–बार छोड़कर, वहां जाना भी पड़ सकता है।''[11]

भारत विभाजन के पश्चात् बड़ी संख्या में मुसलमान पाकिस्तान चले गए। लेकिन पाकिस्तान में भारतीय मुसलमानों को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा, जिसकी उन्होंने कल्पना तक नहीं थी। उन्हें विश्वास ही नहीं था कि उनमें और पाकिस्तान के मुसलमानों में सांस्कृतिक विभेद होगा। भारत में रहकर मजहब के आधार पर अलग देश पाकिस्तान की मांग करते हुए हबीब जैसे लोगों ने यह सोचा भी न था कि एक ही मजहब के मानने वालों में भी आचार–विचार, रहन–सहन, खान–पान और बोली–भाषा का फर्क हो सकता है। ''बंगाली मुसलमानों का रहन–सहन और तौर–तरीके हम लोगों जैसे नहीं हैं। इन पर हिंदुओं का बहुत असर है। नमाज–रोजे के पाबन्द जरूर हैं। लेकिन ये लोग आम मुसलमानों से बहुत अलग दिखाई देते हैं। अक्सर तो पहचानना मुश्किल हो जाता है कि कौन हिंदू है और कौन मुसलमान। उर्दू ये बिल्कुल नहीं जानते। कल्चर के लिहाज से इन्हें हिन्दू कहना ज्यादा सही होगा।''[12]

जो मुसलमान पाकिस्तान चले गए, उन्हें वहाँ आर्थिक लाभ अवश्य मिला। यहाँ की अपेक्षा अच्छी नौकरी मिली पर उनका स्वप्न भी भंग हुआ। इस तरह के प्रसंगों द्वारा लेखक ने साम्प्रदायिकता की निस्सारता को स्पष्ट किया है। हबीब और छाको किसी भी प्रकार से ढाका के मुसलमानों से तालमेल नहीं बैठा पाते। वही हबीब जो मजहब को ही सबकुछ मानता था, कुछ ही वर्ष पाकिस्तान में रहने के बाद वास्तविकता उसके सामने थी। उसे बार–बार गया की, वहाँ के निवासियों की, वहाँ के त्यौहारों की याद आ रही थी। अपने वतन से अलग हो जाने का दर्द लगातार बढ़ता जा रहा था। ठीक ऐसी ही स्थिति छाको की भी थी। उसका हर पत्र उसकी मजबूरी की दास्तान सुनाता है। अपनी मजबूरी और वतन छूट जाने के दर्द से जितना परेशान छाको है, उतना हबीब नहीं। क्योंकि हबीब जान–बूझकर पाकिस्तान गया था, लेकिन छाको अनजाने में और बिना सोचे–समझे। इसलिए छाको का दर्द हबीब के दर्द से अधिक गहरा है। जब छाको पहली बार पाकिस्तान से अपने घर लौटता है तो वह कानून का पालन करते हुए निर्धारित समय पर वापिस चला जाता है। लेकिन जब दूसरी बार आता है तो वह किसी भी स्थिति में जाने को तैयार नहीं होता है– ''जेहल दे दे चाहे फांसी, हम तो छोड़ के न जैबई आपन घरवा।''[13]

आजादी के बाद साम्प्रदायिकता के बदलते स्वरूप को भी लेखक ने अपने उपन्यास में स्पष्ट किया है। आजादी से पूर्व साम्प्रदायिकता चाहे जितनी उग्र और हिंसक रही हो, पर किसी न किसी सूत्र में दोनों सम्प्रदाय परस्पर बंधे हुए भी थे। राजनीतिक रूप से भले ही दोनों सम्प्रदायों के लोग अलग–अलग हो चुके थे, लेकिन सामाजिक रूप से कहीं–न–कहीं जुड़े हुए थे। आजादी से पूर्व दोनों सम्प्रदायों के सामाजिक जीवन में साम्प्रदायिकता का जहर मुहर्रम के दिनों में लोग मिलाने भीतरी गया जाते थे, जो कि हिंदू बाहुल्य क्षेत्र था। शहर में तनाव होने पर भी यह सिलसिला नहीं रूकता था। हिंदू–मुसलमानों का साथ देते थे और उनके इस पर्व में शामिल भी होते थे। एक बार राजनीतिक कारणों से कुछ हिंदुओं ने इस प्रथा को रोकना चाहा तो नकफोफा बाबू ने मुसलमानों की सहायता की थी। परम्परागत तरीके से मुसलमान तोग मिलाने गए। लेकिन आजादी के बाद स्थिति एकदम बदल गई है। हिंदुओं ने साफ–साफ कह दिया कि मुसलमानों को तोग मिलाने गया के अंदर नहीं आने देंगे। इस समय तक नकफोफा बाबू की स्थिति काफी कमजोर हो चुकी थी। वे चाहकर भी मुसलमानों की सहायता नहीं कर पाते। अब हिंदुओं पर भी उनका पहले जैसा असर नहीं था। आजादी से पहले का कट्टर मुसलिम नेता अहमद कादरी भी बदल चुका है। अब वह जिला कैप न पहनकर गांधी टोपी पहनता है। इसी अहमद कादरी ने तोग न मिलने की घटना को कुछ समय पूर्व इतना तूल दिया था कि मार–काट की स्थिति बन गई थी पर अब उसका बदला हुआ रूप देखिए– ''आप लोग एक मामूली सी बात को ख्वामखाह इतनी अहमियत दे रहे हैं। आप लोग समझते हैं कि मुहर्रम के अखाड़े और ढ़ोल बाजे में ही इस्लाम रखा है। ये तमाम चीजें बिल्कुल गैर–इस्लामी हैं। इनका मजहब से कोई

ताल्लुक नहीं है।''[14] गया के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि मुहर्रम बिना तोग मिलाए ही बीत गया।

बिहार से ढाका गए मुसलमानों का सामंजस्य बंगाली मुसलमानों से न हो सका। दोनों के आचार–विचार, रहन–सहन और सोच–समझ में दिन–रात का अंतर था। साम्प्रदायिक आधार पर अलग देश की मांग करने वाले मुस्लिम लीगी मुसलमानों को इस बात का जरा भी ख्याल नहीं था कि मुसलमान–मुसलमान में भी भेद हो सकता है। बंगाली मुसलमानों से बिहारी मुसलमानों को जो नफरत मिली, उनकी आँखें खोल देने के लिए पर्याप्त थी। हबीब ने अपने पत्र में इसी स्थिति का उल्लेख किया था– ''बंगालियों में जरा भी कौम की मुहब्बत नहीं है। इनका रवैया पाकिस्तान को बहुत नुकसान पहुंचा रहा है। कितने अफसोस की बात है कि ढ़ाके में बंगाली और बिहारी मुसलमानों का दंगा हुआ है। बहुत से लोग मारे गए हैं। क्या तुमने कभी सुना था कि मुसलमान इस तरह एक–दूसरे का खून बहायेंगे ? हिंदू–मुस्लिम दंगे तो होते रहते थे, लेकिन मुसलमानों का भी आपस में दंगा हो सकता है, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। समझ में नहीं आता कि बंगालियों से हम लोगों को इतनी नफरत क्यों है ? हमारी जबान, हमारा रहन–सहन, हमारे तौर–तरीके उन्हें क्यों बुरे लगते हैं ? इन बंगालियों की अक्ल पर बड़ा गुस्सा आता है। . . . मैंने कभी ख्वाब में भी नहीं सोचा था कि पाकिस्तान में यह सब देखने–सुनने को मिलेगा।''[15]

हबीब जैसे लोगों को इस प्रकार की स्थिति से गहरा झटका लगा। साम्प्रदायिकता के जिन आधारों पर सम्प्रदायवादियों ने अपनी लड़ाई लड़ी थी, वे आधार यहां टूट जाते हैं। वे कभी यह कल्पना में भी नहीं सोच सकते थे कि मुसलमानों में भी आपस में दंगा हो सकता है, पर दंगा हुआ। बात दंगे तक ही सीमित नहीं रही बल्कि एक अलग देश बनाने की मांग उठी। ऐसी स्थिति में बिहारी मुसलमानों की आँखें खुली। अब उनमें से कुछ तो पश्चिमी पाकिस्तान की तरफ पलायन करने लगे और कुछ असमंजस की स्थिति में पड़े रहे। पुरानी मान्यताओं के टूट जाने से इन्हें अपना छुटा हुआ वतन और अधिक याद आने लगा। वे पुनः अपने देश भारत में आकर रहना चाहते थे लेकिन अब यह संभव नहीं था। वे न तो अपने देश वापस आ सकते थे और न ही पाकिस्तान में चैन से रह पा रहे थे। 'छाको की वापसी' उपन्यास में लेखक ने साम्प्रदायिक दंगों का बहुत ही यथार्थपरक और सूक्ष्म चित्रण किया है। लेखक ने उपन्यास में अनेक स्थलों पर हिन्दू–मुस्लिम दंगों का सजीव दृश्य प्रस्तुत किया है और यह स्पष्ट किया है कि दंगों के कारण सारे वातावरण में एक अनजाना–सा भय छाया रहता है। स्वयं लेखक व उसका परिवार इस डर से भयभीत था। लेखक के शब्दों में– ''हिंदुस्तान और पाकिस्तान में जो दंगे हो रहे थे, उनका असर हमारे शहर पर भी पड़ रहा था। एक तनाव की स्थिति बनी हुई थी। कुछ पता नहीं कब क्या हो जाए। रात में अक्सर ही वहम होने लगता था कि आस–पास कहीं दंगा हो रहा है और अब हमारे मुहल्ले पर भी धावा बोला जाने वाला है।''[16] लेखक की स्मृति में दंगों का यथार्थ गहरे स्तर पर उसके मन–मस्तिष्क में समाया हुआ है। इस तनावग्रस्त मनःस्थिति को दर्शाते हुए लेखक कहता है– ''मैं अपनी हालत के बारे में सोचता हूं कि जब शहर में तनाव रहता तो हिंदू मुहल्ले से गुजरते हुए एक अजीब दहशत का एहसास होता है। जैसे कोई एकाएक पीछे से आकर छुरा घोंप देगा।''[17] इस दंगे में बहुत से हिंदू–मुसलमान मारे गए थे। लेखक ने अपने पिता के माध्यम से इस दृश्य को प्रस्तुत कर इसको सजीव और प्रामाणिक बनाया है जो मन को झकझोर देता है। लेखक के पिता इस दंगे में घिरे हुए थे और बहुत ही मुश्किल से बचकर घर वापस पहुंचे थे। उनको भरे बाजार में एक हिंदू पंसारी बचाता है शेरवानी और पाजामा की जगह धोती पहनने को देता है। उसे रात पंसारी के घर ही काटनी पड़ती है, जहाँ वह पंसारी से भी खौफ महसूस करता है। लेखक के अनुसार उसके पिता को पंसारी के घर से अपने घर पहुँचने की प्रक्रिया में भयानक आतंक की मनोदशा से गुजरना पड़ा था। वस्तुतः दंगों का डर और खौफ आदमी को कितना निस्सहाय बना देता है, इसका यह मार्मिक उदाहरण है।

दंगों से सांस्कृतिक–धार्मिक मिथ्याओं और भिन्नताओं का गहरा रिश्ता है। मनुष्य ने अपने को दूसरे समुदाय से अलग दिखाने के लिए अथवा अपनी धार्मिक–सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा हेतु अलग खान–पान, अलग रीति–रिवाज, अलग पहनावा व अलग भाषा आदि को गढ़ा–रचा है, जो उसकी सांस्कृतिक पहचान को प्रभावित करते हैं। लेकिन कई बार यही पहचान महंगी पड़ जाती है। साम्प्रदायिक झगड़ों में ये सांस्कृतिक पहचान के घटक मदद करते हैं, जिससे दंगाई अपने लक्ष्य में सफल हो जाते हैं। लेखक भारतीय समाज के इस पहलू पर मजाक करते हुए गंभीरता से विचार करता है– ''यह कितनी अजीब बात है और किस कदर बेतुकी भी कि आदमी का लिबास और पहनावा ही, उसकी जिंदगी का फैसला कर दे, आपको जिंदा छोड़ना है या मौत के घाट उतार देना है, इसका फैसला आपके पहनावे को देखकर किया जाए। दंगा सिर्फ गैर–इंसानी काम ही नहीं, इसके कुछ पहलू बेहद बेतुके और मजहकाखेज (हास्यास्पद) भी हैं। यह मैंने पहली बार महसूस किया।''[18]

निष्कर्षतः सांप्रदायिकता के धरातल पर लिखित यह उपन्यास विभाजनकालीन भारत का यथार्थ रूप उपस्थित करता है।बहुत से लोगों के मन में यह भ्रम था कि पाकिस्तान के बनने से हिन्दू–मुस्लिम और साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान हो जाएगा। लेकिन पाकिस्तान बनने के बाद भी साम्प्रदायिकता की समस्या का समाधान नहीं हो पाया है।

संदर्भ सूची

1. प्रो० गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ० 344
2. बदीउज़्ज़माँ, छाको की वापसी, पृ० 183
3. वही, पृ० 92
4. वही, पृ० 93
5. वही, पृ० 131
6. वही, पृ० 91
7. वही, पृ० 20
8. वही, पृ० 20
9. वही, पृ० 17
10. वही, पृ० 30
11. वही, पृ० 19–20
12. वही, पृ० 23
13. वही, पृ० 186
14. वही, पृ० 157
15. वही, पृ० 130
16. वही, पृ० 23
17. वही, पृ० 27
18. वही, पृ० 76–77